AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189

सूर साहित्य में एकांगी प्रेम

ORIGINAL ARTICLE

Author
कृष्ण केतन
असिस्टेंट प्रोफेसर
मानविकी विभाग
महात्मा ज्योतिबा फुले रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय
बरेली, उत्तर प्रदेश, भारत

शोध सार

साहित्य के विस्तृत आकाश में प्रेम का दिव्य स्वरूप सूरदास के काव्य में अद्वितीय रूप से प्रकट होता है। 'सूर साहित्य' में 'एकांगी प्रेम' का विषय प्रेम की उस उच्च अवस्था को दर्शाता है, जहाँ प्रेमी का समर्पण बिना किसी प्रत्याशा के केवल प्रिय को समर्पित होता है। इस शोध पत्र में सूरदास के काव्य में इस निःस्वार्थ और दुर्लभ प्रेम का विश्लेषण किया गया है, जिसमें राधा का कृष्ण के प्रति प्रेम मुख्य रूप से अध्ययन का केंद्र है। सूरदास अपने काव्य में गहन बिंबों और हृदयस्पर्शी कविताओं के माध्यम से एक ऐसे भावनात्मक संसार का चित्रण करते हैं, जहाँ प्रेमी बिना किसी प्रतिफल की अपेक्षा के अपने प्रिय के प्रति संपूर्ण समर्पण करता है। यह प्रेमी का समर्पण अडिग रहता है, चाहे उसे उपेक्षा या पीड़ा ही क्यों न सहनी पड़े। सूरदास का यह प्रेम एक उच्च आध्यात्मिक आदर्श का प्रतीक है, जहाँ प्रेम अपने आप में पूर्ण और निरपेक्ष हो जाता है। इस शोध पत्र में इन विषयों का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जो सूरदास के काव्य की दार्शनिक और आध्यात्मिक जड़ों को उजागर करता है।

मुख्य शब्द

सूर साहित्य, एकांगी प्रेम, सूरदास, राधा–कृष्ण प्रेम, भक्ति साहित्य, आध्यात्मिकता.

प्रेमी का प्रेमास्पद के प्रति सर्वथा कामना शून्य, निरपेक्ष, अहैतुकी और अपरिसीम प्रेम एकांगी प्रेम की पावन संज्ञा से अभिहित किया जाता है। लौकिक धरातल की सीमा से प्रेमी ज्यों–ज्यों अहं के कठोर कवच को विगलित करता जाता है त्यो–त्यों इसकी विशुद्ध आत्मभूमि में प्रवेश करता जाता है। प्रेम स्वयं में भगवान है और भगवान ही प्रेम है इसीलिए प्रेम का स्वरूप सर्वथा अनिर्वचनीय है:

अनिर्वचनीयम् प्रेमस्वरूपम्।[1]

शब्द सामर्थ्य, जहाँ रस महार्णव में डूबकर निस्पन्द हो जाती है। सत्व, रज, तम का अतिक्रमण कर जब चेतना विशुद्ध सत्व में रुपान्तरित होती हुई गुणातीत परब्रह्म से एकत्व स्थापित कर लेती है, तब उसी की भाँति अनन्त हो जाती है।

गहरो प्रेम समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान।
डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान।।
जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहिं।

सब अँधियारा मिट गया, जब दीपक देख्या माहिँ।।[2]

भगवत्कृपा के अमोघ आकर्षण से सम्पूर्ण समर्पण द्वारा जीव को यह सौभाग्य शिखर प्राप्त होता है। अहंता और ममता रूप माया के अकाट्य बन्धन केवल अपने पुरुषार्थ की लपेट से और अधिक उलझते जाते है। अतः प्रारम्भ से ही सच्चा प्रेमी, चतुर प्रेमी अपने कर्तृत्व के पतवार को अपने प्रेमशिरोमणि को सौंप देता है। इस मार्ग में यही ऋजुता है और निरंतर प्रियतम के चिर सानिध्य की रसतरलता। न पतन की किंचित सम्भावना है, न विनाश की विषम वेदना फिर प्रेमी के लिए इससे बढ़कर आत्मनिवेदन की कोई गर्वानुभूति और लक्ष्यसिद्धि की प्रामाणिकता क्या है। सूरदास की गोपियाँ यही सत्य स्वीकार करती हैः 'जीवन मुँहचाही को नीको'।

सन्तों, भक्तों और भगवान का भी यही अभिमत हैः

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।[3]

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।।[4]

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।।[5]

भगवान रस स्वरूप है, आनन्द की अकथ असीम पराकाष्ठा हैं। उनसे अभिन्नता स्थापित कर लेने पर भक्त तत्स्वरूप होकर भी जगत में व्यवहार कर सकता है। स्थितप्रज्ञ भागवत, रससिद्ध भक्त उन्ही की कृपा से ऐसा दिव्य जीवन प्राप्त कर जगत में तीर्थी को भी तीर्थत्व प्रदान कर देता है।

प्रेमसाधक प्रेम की अनेकानेक सोपानों को पार करता है। अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी सभी उदार माने गये हैं। इनमें जो उत्तरोत्तर स्तर हैं वे कामनाओं और समर्पण की श्रेणियों हैं। मन और बुद्धि के विशुद्ध चरण विभिन्न नाम ग्रहण करते है। वस्तुतः मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है। मन ही संसार है। एषणाओं के विविध रूप स्वर्ग मोक्षादि पर्यन्त विषय विशुद्ध भगवत्प्रेम के बाधक है। अंतःकरण इन्ही मल विक्षेप और आवरणादि से हीन स्तर ग्रहण करता है। जब तक मन की कामना नही छूटती तब तक जीव कृतार्थ नहीं होता और उसे सच्चे दिव्य प्रेम की अनुभूति नहीं होती। रस की इसी अप्राकृत साधन यात्रा में अनंत जन्म बीत जाते है लेकिन नाव किनारे नही लगती। विषय वासना की डायन आसुओं के असंख्य समुद्र पीकर भी शांत नहीं होती। भगवत्कृपा स्वरूप भगवत्संगियों का जब संग मिलता है तब कहीं इसके विकराल जाल से जीव छूट पाता है। अतः कामनाओं का त्याग और समर्पण ही एकमात्र शरण्य है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शांतिमधिगच्छति।।[6]

महाकवि सूरदास का भी यही अटल उद्घोष हैः

जौं लौं मन–कामना न छूटै।
तौ कहा जोग–जज्ञ–ब्रत कीन्हैं, बिनु कन तुस कौं कूटै।
कहा सनान कियैं तीरथ के, अंग भस्म, जट–जूटै?
कहा पुरान जु पढै अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूटै।
जग सोभा की सकल बड़ाई, इनतैं कछू न खूटै।
करनी और, कहै कछु और, मन दसहूँ दिसि टूटै।
काम, क्रोध, मद, लोभ–सत्रु हैं, जो इतननि सौं छूटै।
सूरदास तबहीं तम नासै, ज्ञान–अगिनि–झर फूटै।।19।।[7]

मन की तृष्णा ही काम, क्रोध, लोभ मोह आदि का ही नही अपितु संसार के समस्त बखेड़ों की मूल है, मन की समस्त विकृतियों, अटकाव व भ्रमों का उत्स है। संसार के समस्त दुःखों की मूल इच्छा ही है। चाह ही अपने

स्वयंप्रकाश नित्य आनंद स्वरूप से भटका कर विषयों का गुलाम बनाती है। जब तक जीव के मन में स्पृहा रहती है तब तक अतृप्त, अकिंचन, असहाय याचक है। जब यह छूट जाती है परम तोष दायक दाता बन जाता है।

चाह गयी चिन्ता मिटी मनुवा वेपरवाह।
जिनको कछु न चाहिए सोई शहन्साह।।[8]

परम सत्य यह है कि जब तक कामनाएँ हैं तब तक प्रेमस्वरूप परम विश्राम स्वरुप राम हृदय में आ ही नहीं सकतेः

जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम तहँ काम।
तुलसी कबहुँक न रह सकै रवि रजनी इक ठाम।।[9]

प्रेम प्रारम्भ से ही स्वाभाविक रूप से स्वयं प्रकाशित होता है और उसका अकारण प्रवाह प्रेमास्पद की ओर होता है। स्वयं की सुधि खोकर प्रिय पर सर्वात्मना न्योछावर होने के लिए आतुर होता है। प्रेमी का सम्पूर्ण ध्यान और समर्पण प्रियतम की प्रसन्नता में पर्यवसित होता है इसीलिए उसमें अपने सर्वस्व त्याग की विवशता अनन्यता, और आग्रही गर्वोन्मत्तता होती है। अपना सुख, अपना अधिकार, स्वकीय भाव प्रिय भाव में विलीन होकर नित्य नवीन भाव ग्रहण कर परम कृतकृत्य हो जाते हैं।

विश्व वाङ्मय में अनुपम भारतीय वाङ्मय, उसमें भी कविकुलतिलक महाकवि सूर का रससाहित्य प्रेमरसार्णव के अनुपम रत्नों का उत्तुंग सुमेरु है। सूरसाहित्य में दिव्य एकांगी प्रेम स्वयं में प्रेम रस साहित्य की दिव्य वाग्विभूति है, प्रेम कल्पतरु का अनिर्वचनीय अमृतफल है। प्रेमाभक्ति का आदर्श रस–शिखर है। प्रेम क्षेत्र की गुरु गोपिकाओं की नक्षत्र मालिकाओं की विधु विद्युल्लता श्री राधा स्वयं एकांगी प्रेम का रहस्योद्घाटित करती हुई कहती हैंः

सजनी स्याम सदाई ऐसे।
एक अंग की प्रीति हमारी,
वे जैसे के तैसे
ज्यों चकोर चंदा कौं चाहे,
चन्दा नैंकु न मानै।
जल कैं तीर मीन तन त्यागै,
नीर निठुर नहि जाने।
ज्यों पतंग उडि परै ज्योति तकि,
वाके नैंकु न भाये।
चातक रटि–रटि जनम गंवावै,
जल वै डारत खायें।
उनहूँ तैं निर्दयी बड़े वै,
तैसिये मुरली पाई।
सूर स्याम जैसे तैसी वह,
भली बनी अब माई।।[10]

यहाँ श्रीराधा अपने एकांगी प्रेम का मर्म बताती हुई विश्व विश्रुत एकांगी प्रेम के आदर्श उदाहरण देकर अपनी प्रणय विवशता व्यक्त करती हैं। वे प्रथम उदाहरण चकोर का देती हैं जो चन्द्रमा से निष्काम प्रेम करती है। सम्पूर्ण रात्रि भर अपलक नेत्रों से देखती है। चंद्रमा देखे न देखे, वह व्यवहार करे न करे, सब सहती है उसके सम्पूर्ण रात्रि के अविरल प्रेम के बदले चन्द्रमा उस पर तुहिन कणों की दारुण वर्षा करता है। अपने प्रिय के प्रतिकूत व्यवहार पर भी अपने प्रेम की टेक प्राण देकर भी निभाती है। इतना ही नहीं चकोरी को कोई कपूर चुगाये किन्तु वह प्रेम का प्रण निभाती है। अपने प्रिय के सदृश अंगार को खाती है। द्वितीय उदाहरण मछली का देती हैं– मछली जल से एकांगी प्रेम करती है। जाल में फंसने पर जल तो उसका संग छोड़कर बह जाता है, किन्तु वह जल से वियुक्त होकर

उसके बिना छटपटा–छटपटाकर प्राण छोड़ देती है। तृतीय शलभ जैसे दीपशिखा पर प्राणोत्सर्ग कर देता है। दीपक की लौ उसके प्रेम को जाने न जाने उसी प्रकार हम भी अपने प्रियतम से प्रेम करती हैं। चौथा उदाहरण चातक का देती हुई वे कहती है– जैसे पपीहा स्वाति नक्षत्र के बादलों से प्रेम करता है, पिउ–पिउ रटते–रटते सम्पूर्ण जीवन गवाँ देता है, बादल चाहे जल बरसाए या न बरसाए, अपितु ओले ही क्यों न बरसाये। पपीहा भले ही प्यास से मर जाये लेकिन मरते समय गंगा में गिरने पर भी उसके जल में चोंच नहीं डुबाता। श्री राधा अंत में निर्णायक स्वर में कहती हैं कि हमारे श्यामसुंदर और उनकी यह निर्दयी मुरली चन्द्रमा, जल, दीपक की लौ और बादल से भी अधिक निष्ठुर क्यों न हो लेकिन हम तो अपने प्रेम को निभाये बिना नहीं रह सकती।

जहाँ स्वाभाविक रूप से सहज सच्चा प्रेम होता है वह स्वतः स्फूर्त, निष्काम और सर्वथा समर्पण के लिए विवश होता है। प्रिय के प्रतिकूल व्यवहार से विचलित नहीं होकर और अधिक उत्साह से भरा रहता है। प्रिय की प्रसन्नता के लिए दुःख संवरण तो उसके प्रण निर्वाह और गर्वानुभूति के लिए अमृत होता है। महाकवि सूरदास के काव्य में इस एकांगी प्रेम जैसी सांगोपांग छटा दृष्टगोचर होती है अन्यत्र कही उसकी कल्पना नही की जा सकती। सूर की गोपियों और श्रीराधा के प्रेम में यह अनिर्वचनीयता तत्त्व महाभाव की उच्चतम मोहन और मादन की दिव्य कोटि तक सुवासित होता है।

सूरसागर के अनुपम कलेवर में इस दिव्य एकांगी प्रेम की आदि से लेकर प्रेम की पराकाष्ठा के एक से एक अनुपम पद रत्न जड़े हैं। प्रथम चितवन में ही सखियाँ लोकलाज, कुलकानि छोड़कर अपलक अधीर श्यामसुन्दर के सौन्दर्य सिन्धु में नदी की भाँति समा गयीं जो कभी इस प्रेम से अपने आप लौटने में समर्थ नहीं हो सकीं।

स्वाभाविक विवशता के अन्यतम उदाहरण स्वरूप द्रष्टव्य हैं:

चितवनि रोके हूँ न रही।
श्यामसुन्दर सिंधु–सन्मुख, सरित उमंगि वही।
प्रेम सलिल प्रवाह भंवरनि मिलि न थाह लही।
लोभ–लहर–कटाच्छ घूँघट–पट करार ढही।
थके पल पथि, नाँव–धीरज परति नाहिन गही।
मिली सूर सुभाव स्यामहिं फेरहु न चही।[11]

'अखियाँ हरि के हाथ विकानी', जब हरि मुरली अधर धरी' आदि अनेक पदों में प्रेम विवशता की अद्‌भुत झांकी देखी जा सकती है। अनेक पदों में दिव्य प्रेमोन्माद की मनोहारी दशा देखते ही बनती है:

दधि–मटुकी सिर लिए ग्वालिनी,
कान्ह–कान्ह करि डोले री।
बिबश भई तनु–सुधि न सम्हारै,
आप विकी बिन मोलै री।
जोइ–जोइ पूछे यामें है कह,
लेहु–लेहु कह बोलै री।
सूरदास प्रभु रस–बस ग्वालिनी,
विरह भरी फिरै टोलै री।।[12]

सूर की गोपी जन श्रीकृष्ण प्रेम में सांसारिक विषय तृष्णा ही नहीं, स्वर्ग व मोक्षादी तक का तिरस्कार करते हुए उद्धव से कहती हैं:

धर्म, अधर्म कामना सुनावत सुख औ मुक्ति समेत।
काकी भूख गई मन लाडू सो देखहु चित चेत।।
सूर श्याम तजि को भुस फटकै मधुप तिहारे हेत।।[13]

कोटि स्वर्ग सम सुख अनुमानत हरि समीप समता नहि पावत।
थकित सिन्धु–नौका के खग ज्यों फिर फिर फेर बहैगुन गावत।।[14]

महामुक्ति होउ नहि बुझै, जदपि पदारथ चारी।
सूरदास स्वामी मनमोहन मूरति की बलिहारी।।[15]

एकांगी प्रेम में अपने प्रेमास्पद के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु, व्यक्ति, स्वर्ग, मोक्षादी के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता। अपने प्रिय के सुख के लिए सर्वस्व त्यागकर प्रिय की प्रसन्नता हेतु नरक तुल्य यन्त्रणा भी सुखदायक प्रतीत होती है। प्रिय की कितनी ही निष्ठुरता भी सहना पड़े तब भी अपने प्रेम टेक के निर्वाह में शीतलता का अनुभव होता है। गोपियाँ उद्धव से डिंडिमघोष करती हुई कहती हैं:

अपनी शीतलता नहि छाँड़त जद्यपि विधु राहु गरासी।[16]

जाग्रत अवस्था में ही नहीं, स्वप्न में भी एकक्षण के लिए भी ये प्रेम दीवानी प्रियतम की इस प्रेम परिपूर्णता से विलग नहीं होती। सूर की गोपियाँ एकांगी प्रेम में किसी न्यूनता की अनुभूति नहीं करतीं अपितु प्रेमरस सिंधु से छके नेत्रों में सर्वस्व निछावर करने वाली, कभी न बुझने वाली प्यास से परम विकल रहती है:

नाहिन रह्यो हिय में ठौर।
नंदनंदन अक्षत कैसे आनिए उर और?
चलत चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
ह्रदय तें वह स्याम मूरति छन न इत उत जाति।
कहत कथा अनेक ऊधो लोक–लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम–पूरन घट न सिन्धु समाय।
स्यामगात सरोज–आनन ललित अति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास।।[17]

इस प्रकार महाकवि सूर के साहित्य में एकांगी प्रेम की सर्वोत्तम सर्वस्व समर्पणकारिणी निष्काम पीयूष–रसधारा की अनिर्वचनीय निस्सीम छटा दृष्टिगोचर होती है। सांसारिक जीवों की ऐहिक मृगतृष्णा को इस अपार्थिव प्रेम रस का एक भी छींटा मिल जाय, तो उन्हें भी स्वर्गापवर्ग फीके लगने लगें। किसी बड़भागी में ही इसकी दिव्य पिपासा का उदय होता है।

निष्कर्ष

सूरदास की कविता के महाकाव्य स्वरूप में 'एकांगी प्रेम' आध्यात्मिक और भावनात्मक समर्पण की उच्चतम अवस्था को प्राप्त करता है। यह प्रेम केवल एक साधारण भावना नहीं है, बल्कि एक ऐसा ब्रह्मांडीय सिद्धांत है, जो प्रेमी को प्रिय के साथ एक अनन्त बंधन में बाँधता है। राधा के कृष्ण के प्रति अडिग प्रेम के माध्यम से, सूरदास एक ऐसा भक्ति मार्ग प्रस्तुत करते हैं जो सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर शाश्वतता की ओर अग्रसर होता है। यह निःस्वार्थ प्रेम मानव आत्मा की उस शक्ति का प्रमाण है, जो सांसारिकता से ऊपर उठकर दिव्यता से जुड़ती है। अंततः, सूरदास का काव्य यह संदेश देता है कि सच्चा प्रेम संतुष्टि या प्रतिफल की अपेक्षा से मुक्त होता है और प्रेम करने के शुद्ध आनंद पर आधारित होता है। 'एकांगी प्रेम' की यह यात्रा आत्मा की परम एकता की यात्रा है, जो शाश्वत और कालातीत है। सूरदास के छंद युगों–युगों तक गूंजते रहेंगे और प्रेम की उस अनंत क्षमता की ओर संकेत करते रहेंगे, जो आध्यात्मिक जागरण और प्रबोधन का मार्ग प्रशस्त करता है।

संदर्भ सूची

1. नारद भाक्तिसूत्र–51।
2. तिवारी, पारसनाथ (1961) *'कबीर ग्रंथावली'*, बंसल प्रेस, इलाहाबाद, पृ. 473।

3. श्रीमद्भगवद्गीता– 7.14।
4. रामचरितमानस, अयोध्याकांड–127।
5. नारद भक्तिसूत्र–41।
6. श्रीमद्भगवद्गीता – 2.71।
7. राधाकृष्णदास, 1907 *'सूरसागर – 2.19'*, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, पृ. 37।
8. मिश्र, विद्यानाथ (1985) *'रहीम ग्रंथावली'*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 82।
9. द्विवेदी, रामचंद्र (1929) *'तुलसी सतसई'*, दो. 44, इलाहबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहबाद, पृ. 19।
10. चोपड़ा, सुदर्शन (1994) 'हिंदी के लोकप्रिय कवि सूरदास', हिंदी पॉकेट बुक्स प्रा. लिमिटिड, दिल्ली, पृ. 75।
11. राधाकृष्णदास (1907) *'सूरसागर – 10.40'*, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, पृ. 261।
12. राधाकृष्णदास (1907) *'सूरसागर'*, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, पृ. 258।
13. सुन्दरदास, गोपालदास (1982) *'भ्रमरगीत सार'*, सरला प्रेस, बनारस, पृ. 22।
14. सुन्दरदास, गोपालदास (1982) *'भ्रमरगीत सार'*, सरला प्रेस, बनारस, पृ. 26।
15. सुन्दरदास, गोपालदास (1982) *'भ्रमरगीत सार'*, सरला प्रेस, बनारस, पृ. 28।
16. सुन्दरदास, गोपालदास (1982) *'भ्रमरगीत सार'*, सरला प्रेस, बनारस, पृ. 12।
17. सुन्दरदास, गोपालदास (1982) *'भ्रमरगीत सार'*, सरला प्रेस, बनारस, पृ. 28।

––==00==––